

Chapter नौ

पूर्ण वैराग्य

अब अवधूत ब्राह्मण कुरर पक्षी इत्यादि शेष सात गुरुओं का वर्णन करता है। वह एक अतिरिक्त गुरु, अपने ही शरीर, का भी वर्णन करता है।

कुरर पक्षी से प्राप्त उपदेश यह है कि अनुरक्ति से क्लेश उत्पन्न होता है, किन्तु जो व्यक्ति अनुरक्त नहीं रहता और जिसके कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं होती, वह असीम सुख पाने का पात्र है।

अवधूत ब्राह्मण ने मूर्ख आलसी बालक से यह सीखा कि चिन्तामुक्त होने से मनुष्य भगवान् की पूजा करने में समर्थ होता है और परम आनन्द का अनुभव करता है।

एक युवती से जिसने अपने हाथ की कलाइयों में शंख की केवल एक-एक चूड़ी पहन रखी थी, उसे यह शिक्षा मिली कि मनुष्य को अकेले रहना चाहिए और अपने मन को स्थिर करना चाहिए। तभी मन को भगवान् पर पूरी तरह टिकाया जा सकता है। एक बार इस युवती से शादी करने के इच्छुक कई लोग उसके घर पहुँचे, किन्तु संयोगवश उसके सम्बन्धी घर से जा चुके थे। वह घर के भीतर गई और धान कूट कर उन अप्रत्याशित अतिथियों के लिए भोजन पकाने लगी। उस समय उसकी शंख की चूड़ियाँ एक दूसरे से टकराकर खनक रही थीं, अतएव इस आवाज को रोकने के लिए उसने एक एक करके सारी चूड़ियाँ तोड़ डालीं, जिससे उसके हाथ में एक एक चूड़ी रह गई। जिस तरह दो या इससे अधिक चूड़ियाँ आवाज करती हैं, उसी तरह एक ही स्थान पर यदि दो भी व्यक्ति रहें, अधिक का तो कहना ही क्या, तो उनमें परस्पर झगड़ा हो सकता है और व्यर्थ की गपशप हो सकती है।

अवधूत ब्राह्मण ने बाण बनाने वाले से भी शिक्षा ली। यह व्यक्ति बाण बनाने में इतना खोया हुआ था कि उसने सड़क से गुजर रहे राजा को भी नहीं देखा। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि श्री हरि की पूजा में अपने मन को एकाग्र करे।

अवधूत ब्राह्मण ने सर्प से यह सीख ली कि साधु को चाहिए कि अकेले भ्रमण करे, किसी पूर्व निश्चित स्थान में न ठहरे, सदैव सतर्क तथा गम्भीर रहे, अपनी गतिविधियों को प्रकट नहीं करे, किसी से सहायता न ले और बहुत ही कम बोले।

मकड़ी अपने मुँह से जाला निकालती है और उसे पुनः निगल जाती है। उसने मकड़ी से यह सीख ली कि भगवान् इसी तरह से अपने में से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं और फिर अपने में ही समेट लेते हैं।

पेशस्कृत बर्बर जैसा ही रूप धारण करने वाले दुर्बल कीट से अवधूत ब्राह्मण ने यह सीखा कि जीव स्नेह, घृणा तथा भय में से, जिस पर वह अपनी बुद्धि स्थिर कर देता है अगले जन्म में वही स्वरूप प्राप्त करता है।

यह देखते हुए कि क्षणभंगुर शरीर जन्म-मृत्यु के अधीन है, गम्भीर मनुष्य को चाहिए कि इस शरीर से भौतिक अनुरक्ति त्याग दे और अपने उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ज्ञान की खोज में मनुष्य-जीवन के इस दुर्लभ उपहार का ठीक से उपयोग करे।

श्रीब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद्यत्प्रियतमं नृणाम् ।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान्यस्त्वकिञ्चनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—साधु-ब्राह्मण ने कहा; परिग्रहः—लगाव; हि—निश्चय ही; दुःखाय—दुख देने वाली; यत् यत्—जो जो; प्रिय-तमम्—सर्वाधिक प्रिय है; नृणाम्—मनुष्यों के; अनन्तम्—असीम; सुखम्—सुख; आप्नोति—प्राप्त करता है; तत्—वह; विद्वान्—जानते हुए; यः—जो कोई; तु—निस्सन्देह; अकिञ्चनः—ऐसे लगाव से मुक्त है, जो।

साधु-ब्राह्मण ने कहा : भौतिक जगत में हर व्यक्ति कुछ वस्तुओं को अत्यन्त प्रिय मानता है और ऐसी वस्तुओं के प्रति लगाव के कारण अन्ततः वह दीन-हीन बन जाता है। जो व्यक्ति इसे समझता है, वह भौतिक सम्पत्ति के स्वामित्व तथा लगाव को त्याग देता है और इस तरह असीम आनन्द प्राप्त करता है।

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनोऽन्ये निरामिषाः ।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स-आमिषम्—मांस लिये हुए; कुररम्—बड़ा बाज; जघ्नुः—आक्रमण किया; बलिनः—अत्यन्त बलवान; अन्ये—अन्य; निरामिषाः—मांस से रहित; तदा—उस समय; आमिषम्—मांस; परित्यज्य—छोड़कर; सः—उसने; सुखम्—सुख; समविन्दत—प्राप्त किया।

एक बार बड़े बाजों की एक टोली ने कोई शिकार न पा सकने के कारण एक अन्य दुर्बल बाज पर आक्रमण कर दिया जो थोड़ा-सा मांस पकड़े हुए था। उस समय अपने जीवन को संकट में देखकर बाज ने मांस को छोड़ दिया। तब उसे वास्तविक सुख मिल सका।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों से प्रेरित होकर पक्षी उग्र हो उठते हैं और अन्य पक्षियों को खा जाने के लिए या उनके द्वारा पकड़े हुए मांस को छीनने के लिए मार डालते हैं। बाज, गिध, चील्ह इत्यादि इसी श्रेणी के पक्षी हैं। किन्तु मनुष्य को चाहिए कि अन्यो के साथ हिंसा करने की ईर्ष्यालु प्रवृत्ति का परित्याग कर दे और कृष्णभावनामृत को अंगीकार करे, जिससे वह हर जीव को अपने समान देख

सके। वास्तविक सुख के इस पद पर मनुष्य किसी से ईर्ष्या नहीं करता और किसी को अपना शत्रु नहीं मानता।

न मे मानापमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; मे—मुझमें; मान—आदर; अपमानौ—अनादर; स्तः—है; न—नहीं है; चिन्ता—चिन्ता; गेह—घरवालों के; पुत्रिणाम्—तथा बच्चों के; आत्म—अपने से; क्रीडः—खिलवाड़ करते हुए; आत्म—अपने में ही; रतिः—भोग करते हुए; विचरामि—विचरण करता हूँ; इह—इस जगत में; बाल-वत्—बच्चे की तरह।

पारिवारिक जीवन में माता-पिता सदैव अपने घर, अपने बच्चों तथा अपनी प्रतिष्ठा के विषय में चिन्तित रहते हैं। किन्तु मुझे इन बातों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। मैं न तो किसी परिवार के लिए चिन्ता करता हूँ, न ही मैं मान-अपमान की परवाह करता हूँ। मैं आत्म जीवन का ही आनन्द उठाता हूँ और मुझे आध्यात्मिक पद पर प्रेम मिलता है। इस तरह मैं पृथ्वी पर बालक की भाँति विचरण करता रहता हूँ।

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ ।
यो विमृधो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो; एव—निश्चय ही; चिन्तया—चिन्ता से; मुक्तौ—मुक्त; परम-आनन्दे—परम सुख में; आप्लुतौ—निमग्न; यः—जो; विमृधः—अज्ञानी है; जडः—कार्यकलाप के अभाव में मन्द हुआ; बालः—बालकों जैसा; यः—जो; गुणेभ्यः—प्रकृति के गुणों के प्रति; परम्—भगवान्, जो दिव्य है; गतः—प्राप्त किया हुआ।

इस जगत में दो प्रकार के लोग समस्त चिन्ताओं से मुक्त होते हैं और परम आनन्द में निमग्न रहते हैं—एक तो वे, जो मन्द बुद्धि हैं तथा बालकों के समान अज्ञानी हैं तथा दूसरे वे जो तीनों गुणों से अतीत परमेश्वर के पास पहुँच चुके हैं।

तात्पर्य : जो बड़े ही जोश के साथ भौतिक इन्द्रियतृप्ति की खोज में लगे रहते हैं, वे धीरे धीरे जीवन की दयनीय स्थिति में ठेल दिये जाते हैं, क्योंकि ज्योंही कोई व्यक्ति प्रकृति के नियमों का तनिक भी उल्लंघन करता है, उसे पापों का फल भोगना पड़ता है। इस तरह भौतिक रूप से सतर्क तथा महत्वाकांक्षी लोग भी निरन्तर चिन्तामग्न रहते हैं और समय समय पर वे महान् कष्ट में डूबे रहते हैं। किन्तु जो लोग निकम्मे तथा मन्द बुद्धि हैं, वे अपनी ही दुनिया में रहते हैं, किन्तु जो लोग कृष्ण के

शरणागत होते हैं, वे दिव्य आनन्द से ओतप्रोत रहते हैं। अतः मूर्ख तथा भक्त दोनों को इस विचार से शान्त कहा जा सकता है कि वे महत्त्वाकांक्षी लोगों वाली सामान्य चिन्ता से मुक्त रहते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि मन्द बुद्धि मूर्ख तथा भक्त समान पद पर होते हैं। मूर्ख की शान्ति जड़ पत्थर के तुल्य है, जबकि भक्त की तुष्टि पूर्ण ज्ञान पर आधारित होती है।

क्वचित्कुमारी त्वात्मानं वृणानानृहमागतान् ।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—एक बार; कुमारी—तरुणी; तु—निस्सन्देह; आत्मानम्—अपने आपको; वृणानान्—पत्नी के रूप में चाहती हुई; गृहम्—घर में; आगतान्—आये हुए; स्वयम्—अपने आप; तान्—उन पुरुषों को; अर्हयाम् आस—सत्कार किया; क्व अपि—अन्य स्थान को; यातेषु—चले गये हुए; बन्धुषु—अपने सारे सम्बन्धियों के।

एक बार, विवाह योग्य एक तरुणी अपने घर में अकेली थी, क्योंकि उसके माता-पिता तथा सम्बन्धी उस दिन किसी अन्य स्थान को चले गये थे। उस समय कुछ व्यक्ति उससे विवाह करने की विशेष इच्छा से उसके घर आये। उसने उन सबों का सत्कार किया।

तेषामभ्यवहारार्थं शालीत्रहसि पार्थिव ।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—अतिथियों का; अभ्यवहार—अर्थम्—उन्हें खिलाने के वास्ते; शालीन्—धान; रहसि—अकेली होने से; पार्थिव—हे राजा; अवघ्नन्त्याः—कूट रही; प्रकोष्ठ—अपनी कलाइयों में; स्थाः—स्थित; चक्रुः—बनाया; शङ्खाः—शंख से बनी चूड़ियाँ; स्वनम्—आवाज; महत्—अत्यधिक।

वह लड़की एकान्त स्थान में चली गई और अप्रत्याशित अतिथियों के लिए भोजन बनाने की तैयारी करने लगी। जब वह धान कूट रही थी, तो उसकी कलाइयों की शंख की चूड़ियाँ एक-दूसरे से टकराकर जोर से खड़खड़ा रही थीं।

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती वृद्धिता ततः ।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान्द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; तत्—उस आवाज को; जुगुप्सितम्—लजास्पद; मत्वा—सोचकर; महती—अत्यन्त बुद्धिमती; वृद्धिता—शमीली; ततः—उसकी बाँहों से; बभञ्ज—उसने तोड़ दिया; एक-एकशः—एक-एक करके; शङ्खान्—शंख की चूड़ियाँ; द्वौ द्वौ—प्रत्येक में दो-दो; पाण्योः—अपने दोनों हाथों में; अशेषयत्—छोड़ दिया।

उस लड़की को भय था कि ये लोग उसके परिवार को गरीब समझेंगे, क्योंकि उनकी पुत्री धान कूटने के तुच्छ कार्य में लगी हुई है। अत्यन्त चतुर होने के कारण शर्मीली लड़की ने अपनी बाँहों में पहनी हुई शंख की चूड़ियों में से प्रत्येक कलाई में केवल दो दो चूड़ियाँ छोड़कर शेष सभी चूड़ियाँ तोड़ दीं।

उभयोरप्यभूद्धोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्वशङ्खयोः ।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद्ध्वनिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उभयोः—(प्रत्येक हाथ में) दो से; अपि—फिर भी; अभूत्—हो रहा था; घोषः—शब्द, आवाज; हि—निस्सन्देह;
अवघ्नन्त्याः—धान कूट रही; स्व-शङ्खयोः—शंख की दो-दो चूड़ियों में से; तत्र—वहाँ; अपि—निस्सन्देह; एकम्—केवल एक; निरभिदत्—उसने अलग कर दिया; एकस्मात्—उस एक आभूषण से; न—नहीं; अभवत्—हुआ; ध्वनिः—शब्द।

तत्पश्चात्, ज्योंही वह लड़की धान कूटने लगी प्रत्येक कलाई की दो-दो चूड़ियाँ टकराकर आवाज करने लगीं। अतएव उसने हर कलाई में से एक-एक चूड़ी उतार ली और जब हर कलाई में एक-एक चूड़ी रह गई, तो फिर आवाज नहीं हुई।

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम ।
लोकाननुचरन्नेतान्लोकतत्त्वविवित्सया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अन्वशिक्षम्—मैंने अपनी आँखों से देखा है; इमम्—इस; तस्याः—उस लड़की के; उपदेशम्—शिक्षा; अरिम्-दम—हे शत्रु का दमन करने वाले; लोकान्—संसारों में; अनुचरन्—घूमते हुए; एतान्—इन; लोक—संसार का; तत्त्व—सत्य; विवित्सया—जानने की इच्छा से।

हे शत्रुओं का दमन करने वाले, मैं इस जगत के स्वभाव के बारे में निरन्तर सीखते हुए पृथ्वी-भर में विचरण करता हूँ। इस तरह मैंने उस लड़की से स्वयं शिक्षा ग्रहण की।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्राह्मण यदुराज से बतला रहा है कि वह कोई सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं प्रस्तुत कर रहा। प्रत्युत संसार-भर में विचरण करते हुए इस सतर्क विचारवान ब्राह्मण ने उपर्युक्त समस्त गुरुओं से स्वयं शिक्षा ग्रहण की है। इस प्रकार अपने को ईश्वर की तरह सर्वज्ञ न मानकर वह विनीत भाव से बतलाता है कि उसने अपनी यात्रा के दौरान इन उपदेशों को निष्ठापूर्वक सीखा है।

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव वसेत्तस्मात्कुमार्या इव कङ्कणः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

वासे—घर में; बहूनाम्—अनेक लोगों के; कलहः—झगड़ा; भवेत्—होगा; वार्ता—बातचीत; द्वयोः—दो लोगों के; अपि—भी; एकः—अकेला; एव—निश्चय ही; वसेत्—रहना चाहिए; तस्मात्—इसलिए; कुमार्याः—कुमारी (लड़की) के; इव—सदृश; कङ्कणः—चूड़ी।

जब एक स्थान पर अनेक लोग साथ साथ रहते हैं, तो निश्चित रूप से झगड़ा होगा। यहाँ तक कि यदि केवल दो लोग ही एक साथ रहें, तो भी जोर-जोर से बातचीत होगी और आपस में मतभेद रहेगा। अतएव झगड़े से बचने के लिए मनुष्य को अकेला रहना चाहिए, जैसा कि हम लड़की की चूड़ी के दृष्टान्त से शिक्षा पाते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में एक अच्छा-सा उदाहरण दिया है। चूँकि इस कथा में उल्लिखित लड़की का कोई पति न था, इसलिए उसे अपनी चूड़ियाँ उतार कर आतिथेय का कर्तव्य निभाना था, जिससे उसकी कलाई में केवल एक-एक चूड़ी रह गई थी। इसी तरह ज्ञानयोग विधि की माँग है कि चिन्तन में लगे साधु अकेले रहें, किसी अन्य के साथ न रहें। चूँकि ज्ञानी लोग चिन्तन पर अपना जीवन अर्पित करते हैं, अतएव यदि अनेक ज्ञानी एक साथ रहें, तो उनमें लगातार तर्क-वितर्क चलता रहेगा। इसलिए शान्त वातावरण बनाये रखने के लिए उन्हें अकेले रहना चाहिए। दूसरी ओर एक राजकुमारी किसी भव्य राजकुमार के साथ विवाहित किये जाने के बाद आकर्षक वस्त्र एवं आभूषण धारण कर प्रेम करने के लिए राजकुमार के पास जाती है। इसी तरह भक्तिदेवी अपने को उन असंख्य वैष्णव रूपी आभूषणों से सँवारती है, जो भगवन्नाम की मधुर ध्वनि का आस्वादन करने के लिए एकत्र होते हैं। चूँकि शुद्ध वैष्णवजन कभी भी अभक्तों के साथ घनिष्ठतापूर्वक मिलते-जुलते नहीं, अतः यह कहा जा सकता है कि वे अकेले रहते हैं, अतएव वे भी इस श्लोक के अभिप्राय को पूरा करते हैं। शुद्ध वैष्णवों के बीच कोई झगड़ा नहीं हो सकता, क्योंकि वे इच्छाहिनता के वास्तविक पद पर होते हैं उन्हें मोक्ष या योगशक्ति की भी इच्छा नहीं रहती, इन्द्रियतृप्ति की तो कहना ही क्या! चूँकि वे सभी कृष्ण-भक्त होते हैं, अतएव भगवान् का गुणगान करने के लिए वे एक-दूसरे से खुलकर मिल-जुल सकते हैं। जैसाकि श्रीमद्भागवत (३.२५.३४) में कहा गया है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्

मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।

येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य

सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

“भक्ति-कार्यों में अनुरक्त तथा मेरे चरणकमलों की सेवा में सदैव लगा रहने वाला शुद्ध भक्त कभी भी मुझसे एकाकार नहीं होना चाहता। ऐसा भक्त जो अटल भक्ति में लगा रहता है मेरी लीलाओं तथा कार्यकलापों का सदैव गुणगान करता है।”

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है “इस कथा की लड़की ने अपनी प्रत्येक कलाई में एक-एक चूड़ी इसीलिए रखी, जिससे चूड़ियों में जोर-जोर का झगड़ा न हो सके। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि वह उन लोगों की संगति छोड़ दे, जो भगवान् की भक्ति नहीं करते।” सीखने योग्य वास्तविक उपदेश यही है। असली वैष्णव सदैव शुद्ध और निर्मल चरित्र वाला होता है। किन्तु उन स्थानों में जहाँ अभक्तगण जुटेंगे, वहाँ निश्चित रूप से भगवद्भक्ति की ईर्ष्यापूर्ण आलोचना होगी और जो लोग भगवत्विहीन सच्चाई का विश्लेषण करना चाहते हैं, वे दर्शन के नाम पर काफी उधम तथा शोर मचाएँगे। इसलिए मनुष्य को उन स्थानों में रहना चाहिए, जहाँ भगवान् की पूजा वैदिक मानकों के अनुसार उचित तरीके से की जाती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् कृष्ण की महिमा का वर्णन करता है, तो पारस्परिक संगति में कोई बाधा नहीं आएगी। किन्तु जहाँ भगवान् के अतिरिक्त नाना प्रकार के कार्य करने होते हैं, वहाँ सामाजिक आदान-प्रदान में बाधा पहुँचेगी।

अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह उन लोगों से दूर रहे, जो भक्ति के शत्रु हैं, अन्यथा जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करना दूभर हो जायेगा। जो व्यक्ति सदा भगवद्भक्तों की संगति में रहता है, वह एक तरह से अकेले ही रहता है। यदि वह ऐसे समुदाय में रहता है, जहाँ भगवान् की इच्छा ही सर्वोपरि होती है, तो वह ऐसी विरोधी स्थितियों से दूर रह सकता है, जो अपनी भौतिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए होड़ में लगे अनेक व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न होती हैं। ब्राह्मण ने लड़की की चूड़ियों से बुद्धिमानी से यह शिक्षा ली।

इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य निम्नलिखित उद्धरण देते हैं—

असज्जनैस्तु संवासो न कर्तव्यः कथञ्चन ।

यावद् यावच्च बहुभिः सज्जनैः स तु मुक्ति-दः ॥

“मनुष्य को किसी भी दशा में उन व्यक्तियों के साथ नहीं रहना चाहिए, जो भगवद्भक्त नहीं हैं। दूसरी ओर, उसे अनेक भक्तों के साथ रहना चाहिए, क्योंकि ऐसी संगति मुक्ति देने वाली है।”

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः ।

वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; एकत्र—एक स्थान में; संयुञ्ज्यात्—स्थिर करे; जित—जीता हुआ; श्वासः—साँस; जित—जीता हुआ; आसनः—योगासन; वैराग्य—वैराग्य द्वारा; अभ्यास—योगेन—योगाभ्यास से; ध्रियमाणम्—स्थिर किया हुआ मन; अतन्द्रितः—अत्यन्त सावधानीपूर्वक।

योगासनों में दक्षता प्राप्त कर लेने तथा श्वास-क्रिया पर नियंत्रण पा लेने पर मनुष्य को चाहिए कि वैराग्य तथा नियमित योगाभ्यास द्वारा मन को स्थिर करे। इस तरह मनुष्य को योगाभ्यास के एक लक्ष्य पर ही सावधानी से अपने मन को स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : यह देखते हुए कि सभी वस्तुएँ नष्ट होनी हैं, मनुष्य को वैराग्य उत्पन्न करना चाहिए। इस तरह उसे नियमित योगाभ्यास करना चाहिए, जिसका इस युग में अर्थ है कि वह हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह अवधूत ब्राह्मण भक्ति-मिश्र अष्टांगयोग की संस्तुति कर रहा है।

भौतिक जगत की भोगेच्छा इतनी प्रबल होती है कि मन बिना लगाम के इधर-उधर विचरण करता है। इसीलिए ध्रियमाणम् कहा गया है, अर्थात् मन को जीवन के लक्ष्य भगवान् में स्थिर करना चाहिए। मानसिक एकाग्रता की पूर्णावस्था समाधि कहलाती है, जिसमें आन्तरिक तथा बाह्य दृष्टि में कोई भेद नहीं रह जाता, क्योंकि परम सत्य को सर्वत्र देखा जा सकता है।

योग-विधि में मनुष्य को ठीक से बैठना होता है, तभी शरीर के भीतर के विभिन्न प्राणों को वश में किया जा सकता है। श्वास पर नियंत्रण पा लेने पर, मन को उच्चतर चेतना में आसानी से स्थिर किया जा सकता है, क्योंकि मन शारीरिक प्राणों की क्रियाओं पर आश्रित होता है। भले ही मन को क्षणिक रूप से नियंत्रण में कर लिया जाय, किन्तु यदि मनुष्य इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से अभिभूत हो जाता है, तो मन पुनः हाथ से निकल जाता है। इस तरह यह श्लोक भौतिक मोह से वैराग्य पर बल देता है। इसे अभ्यास योग द्वारा अर्थात् कृष्णभावनामृत के नियमित अभ्यास द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और यही सर्वोच्च योग पद्धति है, जैसाकि भगवद्गीता (६.४७) में पुष्टि हुई है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

“और समस्त योगियों में से, जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण हैं, अपने अन्तःकरण में मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है, वह योग में मुझसे परम अन्तरंग रूप से जुड़ा रहता है और सबों में सर्वोच्च है। यही मेरा मत है।”

यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेत-

च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरिणून् ।

सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च

विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें (भगवान् में); मनः—मन; लब्ध—प्राप्त किया हुआ; पदम्—स्थायी पद; यत् एतत्—वही मन; शनैः शनैः—धीरे-धीरे, एक-एक पग करके; मुञ्चति—त्याग देता है; कर्म—सकाम कर्मों के; रेणून्—कल्मष को; सत्त्वेन—सतोगुण द्वारा; वृद्धेन—प्रबल हुए; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; च—भी; विधूय—त्यागकर; निर्वाणम्—दिव्य स्थिति, जिसमें मनुष्य अपने ध्यातव्य से संयुक्त हो जाता है; उपैति—प्राप्त करता है; अनिन्धनम्—बिना ईंधन के।

जब मन भगवान् पर स्थिर हो जाता है, तो उसे वश में किया जा सकता है। स्थायी दशा को प्राप्त करके मन भौतिक कार्यों को करने की दूषित इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। इस तरह सतोगुण के प्रबल होने पर मनुष्य रजो तथा तमोगुण का पूरी तरह परित्याग कर सकता है और धीरे धीरे सतोगुण से भी परे जा सकता है। जब मन प्रकृति के गुण-रूपी ईंधन से मुक्त हो जाता है, तो संसार-रूपी अग्नि बुझ जाती है। तब उसका सीधा सम्बन्ध दिव्य स्तर पर अपने ध्यान के लक्ष्य, परमेश्वर, से जुड़ जाता है।

तात्पर्य : प्रकृति के तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर बड़ी बड़ी बाधाएँ उत्पन्न करती है और यह खतरा बना रहता है कि मनुष्य कहीं अज्ञान के अंधकार में न जा गिरे। जो लोग व्यावहारिक मनोविज्ञान में अनुभवी हैं, वे अनियंत्रित मन के खतरों से परचिति रहते हैं और मन को वश में लाने का निरन्तर प्रयास करते हैं। यदि मनुष्य अपने को रजो तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त कर ले, तो जीवन अत्यन्त मंगलमय हो जाय। मन को वश में करना तथा इस तरह प्रकृति के गुणों के प्रभाव से अपने को मुक्त कर लेना ही जीवन में वास्तविक प्रगति करने का एकमात्र साधन है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में यस्मिन् शब्द भगवान् का द्योतक है, जो समस्त आनन्द के

आगार हैं। मन की लालसाओं का परित्याग यह नहीं बतलाता कि निर्विशेष से तादाम्य हो गया है, जैसाकि स्वप्नरहित निद्रा में अनुभव किया जाता है। जैसे कि इस श्लोक में कहा गया है *सत्त्वेन वृद्धेन* पहले सतोगुण में दृढ़ता से स्थापित होकर, तब धीरे-धीरे आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठा जाय, जहाँ मनुष्य भगवान् के साथ रह सके।

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो

न वेद किञ्चिद्बहिरन्तरं वा ।

यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-

मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; एवम्—इस प्रकार; आत्मनि—भगवान् में; अवरुद्ध—स्थिर; चित्तः—मन; न—नहीं; वेद—जानता है; किञ्चित्—कुछ भी; बहिः—बाहरी; अन्तरम्—आन्तरिक; वा—अथवा; यथा—जिस तरह; इषु—बाणों का; कारः—बनाने वाला; नृ-पतिम्—राजा को; व्रजन्तम्—जाते हुए; इषौ—बाण में; गत-आत्मा—लीन होकर; न ददर्श—नहीं देखा; पार्श्वे—अपनी बगल में।

इस प्रकार जब मनुष्य की चेतना परम सत्य भगवान् पर पूरी तरह स्थिर हो जाती है, तो उसे द्वैत अथवा आन्तरिक और बाह्य सच्चाई नहीं दिखती। यहाँ पर एक बाण बनाने वाले का दृष्टान्त दिया गया है, जो एक सीधा बाण बनाने में इतना लीन था कि उसने अपने बगल से गुजर रहे राजा तक को नहीं देखा।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब राजा किसी जन-मार्ग में से होकर चलता है, तो उसके आगे आगे नगाड़े तथा अन्य बाज-गाजे बजते रहते हैं और उसके साथ सिपाही तथा अन्य लोग रहते हैं। किन्तु बाण बनाने वाला अपनी कर्मशाला के पास से गुजरती हुई इस शाही धूमधाम को नहीं देख पाया, क्योंकि वह बाण को तेज तथा सीधा करने के इस निर्धारित कार्य में लीन था। जो व्यक्ति परम सत्य श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति में लीन रहता है, वह भौतिक मोह पर ध्यान नहीं देता। इस श्लोक में *बहिस्* शब्द इन्द्रियतृप्ति की असंख्य वस्तुओं यथा भोजन, पेय, यौन इत्यादि का द्योतक है, जो बद्धजीव की इन्द्रियों को भौतिक द्वन्द्व में खींच लाती हैं। *अन्तरम्* शब्द विगत इन्द्रियतृप्ति की स्मृति अथवा भविष्य की भौतिक अवस्थाओं के स्वप्नों एवं आशाओं का द्योतक है। जो व्यक्ति सर्वत्र परम सत्य श्रीकृष्ण को देखता है, वह आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के मोहों का बहिष्कार कर देता है। यह *मुक्तिपद* कहलाता है। इस पद पर, न तो इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकर्षण रहता है, न विकर्षण, प्रत्युत परम

सत्य कृष्ण में प्रेमपूर्ण तल्लीनता एवं भक्ति द्वारा उन्हें प्रसन्न करने की महती इच्छा रहती है। जो व्यक्ति कृष्ण की सत्यता को त्यागता है, उसे मानसिक चिन्तन के राज्य में व्यर्थ घूमना पड़ता है। जो व्यक्ति यह नहीं देख पाता कि प्रत्येक वस्तु के आधार-रूप परम सत्य भगवान् कृष्ण हैं, वह इस भ्रान्त धारणा से मोहग्रस्त होता रहेगा कि कुछ ऐसा है, जो कृष्ण नहीं है। प्रत्येक वस्तु भगवान् से उद्भूत है और वे ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं। यह साधारण ज्ञान ही वास्तविक अस्तित्व की स्थिति है।

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः ।

अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

एक—अकेला; चारी—विचरणशील; अनिकेतः—बिना स्थिर निवास के; स्यात्—होए; अप्रमत्तः—अत्यन्त सतर्क होने से; गुहा-आशयः—एकान्त रहते हुए; अलक्ष्यमाणः—बिना पहचाना जाकर; आचारैः—अपने कार्यों से; मुनिः—मुनि; एकः—संगी रहित; अल्प—बहुत कम; भाषणः—बोलते हुए।

सन्त-पुरुष को अकेले रहना चाहिए और किसी स्थिर आवास के बिना, निरन्तर विचरण करते रहना चाहिए। सतर्क होकर, उसे एकान्तवास करना चाहिए और इस तरह से कार्य करना चाहिए कि वह अन्यो द्वारा पहचाना या देखा न जा सके। उसे संगियों के बिना इधर-उधर जाना चाहिए और जरूरत से ज्यादा बोलना नहीं चाहिए।

तात्पर्य : युवा लड़की की शंख-चूड़ियों से सम्बन्धित पूर्ववर्ती कथा यह बतलाती है कि सामान्य योग-विधियों में लगे हुए साधु-पुरुषों को भी अकेले रहना चाहिए जिससे झगड़े या उत्पात से बचा जा सके। दूसरे शब्दों में, सामान्य योग-विधियों में लगे हुए व्यक्तियों को एक-दूसरे की भी संगति नहीं करनी चाहिए। यह श्लोक परोक्ष रूप से उस सर्प को बतलाता है, जो मनुष्यों से हमला किये जाने के भय से एकान्त में रहता है। इस दृष्टान्त से हम यह सीखते हैं कि सन्त-पुरुष को सामान्य भौतिकतावादी व्यक्तियों की संगति नहीं करनी चाहिए। उसे स्थायी आवास बनाने से भी बचना चाहिए और उसे अन्यो द्वारा अनदेखा रहकर विचरण करना चाहिए।

संसार में हमारी व्यस्तता ही हमारे दुख का कारण है। ऐसी व्यस्तता से हमारे जीवन का असली उद्देश्य, कृष्णभावनामृत, नष्ट होता है। मनुष्य को चाहे, जैसे भी हो सके, भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम से गहरे लगाव को छोड़ देना चाहिए। उसे वैराग्य का अभ्यास करना चाहिए और कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों की शरण लेने से उसका मंगलमय जीवन शुरू होगा। अपने जीवन को वर्णाश्रम पद्धति के

अनुसार व्यवस्थित करके मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की दिशा में पहला डग भर सकता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को ईमानदारी का पेशा अपनाना चाहिए और उसे अपना यौन-जीवन या तो ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी की भाँति पूर्णतया त्याग कर या फिर विवाहित गृहस्थ के रूप में व्यवस्थित करना चाहिए। अपना पेशा तथा अपने निजी जीवन को नियमित बनाये बिना कुव्यवस्था बनी रहेगी और आध्यात्मिक प्रगति कर पाना कठिन हो जायेगा। भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम के प्रति लगावों का आधार भौतिक जगत में दीर्घकालीन अनुभव होते हैं। वे आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग में रोड़े बनते हैं और यदि उन्हें उसी रूप में रहने दिया जाता है, तो आध्यात्मिक प्रगति अत्यन्त कठिन हो जाती है। चैतन्य महाप्रभु ने अपने उदाहरण तथा उपदेश से यह शिक्षा दी है कि भक्त को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इन सिद्धान्तों का पालन करने से परम सिद्धि के मार्ग में अग्रसर हुआ जा सकता है। इस तरह मनुष्य को सामान्य सामाजिक प्रथा से ऊपर उठना होगा, जो जीव को व्यर्थ की इन्द्रियतृप्ति की ओर ले जाती है।

गृहारम्भो हि दुःखाय विफलश्चाधुवात्मनः ।

सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

गृह—घर का; आरम्भः—निर्माण; हि—निश्चय ही; दुःखाय—दुखदायी; विफलः—व्यर्थ; च—भी; अधुव—अस्थायी; आत्मनः—जीव का; सर्पः—साँप; परकृतम्—अन्यों द्वारा बनाया गया; वेश्म—घर; प्रविश्य—घुस कर; सुखम्—सुखपूर्वक; एधते—दिन काटता है।

जब नश्वर शरीर में वास करने वाला मनुष्य सुखी घर बनाने का प्रयास करता है, तो उसका परिणाम व्यर्थ तथा दुखमय होता है। किन्तु साँप अन्यों द्वारा बनाये गये घर में घुस जाता है और सुखपूर्वक रहता है।

तात्पर्य : सर्प में अपना घर बनाने की प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु वह अन्य प्राणियों द्वारा बनाये गये उपयुक्त स्थान में रहता है। इस तरह वह घर बनाने की झंझट अपने सिर मोल नहीं लेता। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती, इंगित करते हैं कि यद्यपि भौतिकतावादी लोग बिजली, परिवहन, हवाई जहाज इत्यादि का आविष्कार करने और उनका बड़े पैमाने पर उत्पादन करने में अपार कष्ट झेलते हैं, किन्तु अन्ततः ये सारी वस्तुएँ उन वैष्णवों की सुविधा के लिए हैं, जो कृष्णभावनामृत का प्रचार कर रहे हैं। कर्मीजन सदैव ऐसा कष्ट उठायेंगे और भक्तगण ऐसे श्रमपूर्ण उत्पादन को भगवान् की सेवा में लगाकर

उन्हें ही अर्पित करते रहेंगे। भक्तगण जीवन की परम सिद्धि की चिन्ता में लगे रहने से भौतिक प्रगति के लिए स्वयं संघर्ष नहीं करते। दूसरी ओर, भक्तों को प्राचीनकाल की संयमित जीवन-शैली का बनावटी रूप से अनुकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। भक्त का लक्ष्य अच्छे से अच्छे तरीके से कृष्ण की सेवा करना है, इसलिए भक्तगण सुन्दर महलों को एवं सभी प्रकार के ऐश्वर्य को किसी निजी लगाव के कारण नहीं ग्रहण करते, अपितु इसलिए कि इन वस्तुओं को भगवान् की सेवा में लगाया जा सके। यदि कोई व्यक्ति ऐसी वस्तुओं का भोग करने की इच्छा रखता है, तो वह शुद्ध भक्ति के पद से नीचे गिर जाता है। भौतिकतावादी लोग तथाकथित योगाभ्यास का दुरुपयोग अपनी काम-शक्ति को जागृत करने अथवा अपने विगत बद्ध जीवन का व्यर्थ ही स्मरण करने के लिए करते हैं। इस तरह वे इन्द्रियतृप्ति की अनन्त खोज के लिए योग का उपयोग करते हुए मावन-जीवन के वास्तविक लक्ष्य को नहीं समझ पाते।

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया ।

संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ।

एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एकः—एकमात्र; नारायणः—भगवान्; देवः—ईश्वर; पूर्व—पहले; सृष्टम्—उत्पन्न किया गया; स्व-मायया—अपनी ही शक्ति से; संहृत्य—अपने में समेट कर; काल—समय के; कलया—अंश से; कल्प-अन्ते—संहार के समय; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; ईश्वरः—परम नियन्ता; एकः—एकमात्र; एव—निस्सन्देह; अद्वितीयः—अनुपम; अभूत्—बन गया; आत्म-आधारः—हर वस्तु के आगार तथा आश्रय स्वरूप; अखिल—समस्त शक्तियों के; आश्रयः—आगार।

ब्रह्माण्ड के स्वामी नारायण सभी जीवों के आराध्य ईश्वर हैं। वे किसी बाह्य सहायता के बिना ही अपनी शक्ति से इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं और संहार के समय वे ब्रह्माण्ड को अपने कालरूपी स्वांश से नष्ट करते हैं और बद्धजीवों समेत समस्त ब्रह्माण्डों को अपने में समेट लेते हैं। इस तरह उनका असीम आत्मा ही समस्त शक्तियों का आगार तथा आश्रय है। सूक्ष्म प्रधान, जो समस्त विराट जगत का आधार है, भगवान् के ही भीतर सिमट जाता है और इस तरह उनसे भिन्न नहीं होता। संहार के फलस्वरूप वे अकेले ही रह जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि इस अध्याय के श्लोक २१ में बतलाया जायेगा भगवान् द्वारा ब्रह्माण्ड के स्वतंत्र सृजन तथा संहार की तुलना मकड़ी द्वारा अपना जाल बनाने तथा उसे समेटने से की जा सकती है। इस

श्लोक में एक शब्द दो बार इसलिए आया है कि भगवान् केवल एक हैं और ब्रह्माण्ड का सारा कार्य तथा उनकी आध्यात्मिक लीलाएँ उनकी ही शक्ति से संचालित है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में कारणार्णवशायी विष्णु का उल्लेख है। *आत्माधार* तथा *अखिलाश्रय* ये दोनों ही शब्द यह सूचित करते हैं कि नारायण समस्त जीवों के आगार अथवा आश्रय हैं। *आत्माधार* बतलाता है कि भगवान् का निजी शरीर हर वस्तु का आश्रय है। महाविष्णु आदि भगवान् कृष्ण के स्वांश हैं, जिनके शरीर से असंख्य शक्तियाँ विस्तार पाकर भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों को प्रकट करती हैं। *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार ये असंख्य लोक भगवान् के शरीर से ही उद्भूत ब्रह्मज्योति के ही भीतर टिके रहते हैं। इस तरह कृष्ण ईश्वर, अर्थात् परम नियन्ता हैं।

कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ।

सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ १७ ॥

परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः ।

केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कालेन—काल द्वारा; आत्म-अनुभावेन—भगवान् की निजी शक्ति द्वारा; साम्यम्—सन्तुलन को; नीतासु—लाया जाकर; शक्तिषु—भौतिक शक्ति में; सत्त्व-आदिषु—सतो इत्यादि गुण.; आदि-पुरुषः—शाश्वत भगवान्; प्रधान-पुरुष-ईश्वरः—प्रधान तथा जीवों के परम नियन्ता; पर—मुक्तजीवों या देवताओं के; अवरणाम्—सामान्य बद्धजीवों के; परमः—परम आराध्य; आस्ते—विद्यमान है; कैवल्य—मुक्त जीवन; संज्ञितः—संज्ञा वाला, के नाम वाला; केवल—निर्मल; अनुभव—अन्तर्ज्ञात का अनुभव; आनन्द—आनन्द; सन्दोहः—समग्रता; निरुपाधिकः—उपाधिधारी सम्बन्धों से रहित।

जब भगवान् काल के रूप में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं और सतोगुण जैसी अपनी भौतिक शक्तियों को प्रधान (निरपेक्ष साम्य अवस्था) तक ले जाते हैं, तो वे उस निरपेक्ष अवस्था (प्रधान) तथा जीवों के भी परम नियन्ता बने रहते हैं। वे समस्त जीवों के भी आराध्य हैं, जिनमें मुक्त आत्मा, देवता तथा सामान्य बद्धजीव सम्मिलित हैं। भगवान् शाश्वत रूप से किसी भी उपाधि से मुक्त रहते हैं और वे आध्यात्मिक आनन्द की समग्रता से युक्त हैं, जिसका अनुभव भगवान् के आध्यात्मिक स्वरूप का दर्शन करने पर होता है। इस तरह भगवान् “मुक्ति” का पूरा पूरा अर्थ प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : जो व्यक्ति परम सत्य या भगवान् में अपने मन को स्थिर करता है, वह भौतिक चिन्ता की तरंगों से तुरन्त मुक्त हो जाता है, क्योंकि भगवान् का दिव्य रूप किसी भी तरह के कल्मष या

उपाधि से सर्वथा रहित होता है। अल्पज्ञ व्यक्ति इस तर्कहीन सिद्धान्त को मानते हैं कि भगवान् अपनी सृष्टि में रूपान्तरित हो जाते हैं और उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। वे भ्रमवश यह कल्पना करते हैं कि वे अपने व्यक्तित्व को विराट में लीन करके भगवान् के ही तुल्य बन सकते हैं। किन्तु श्रीमद्भागवत के मतानुसार भगवान् निर्विशेष नहीं होते, अपितु दिव्य गुणों से युक्त होते हैं। प्रकृति के तीनों गुण उनकी कनिष्ठ शक्ति हैं और सर्वशक्तिमान काल जिस पर सारे गुण आश्रित होते हैं, भगवान् का साक्षात् अंश है। इस प्रकार भगवान् भौतिक जगत का सृजन, पालन और संहार करते हैं, फिर भी उससे बिल्कुल विलग रहते हैं। उन बद्धजीवों को, जो भगवान् की कनिष्ठ सृष्टि का लाभ उठाना चाहते हैं, भगवान् ऐसा करने के लिए प्रेरित करते हैं और इस तरह वे नश्वर भौतिक जगत के नकली भोक्ता बन जाते हैं। किन्तु जब मनुष्य को यह व्यावहारिक अनुभव प्राप्त होता है कि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर, तो शाश्वत आत्मा के आवरण मात्र हैं, तो वह भौतिक अनुरक्ति की मूर्खता त्याग कर भगवान् में अनुरक्त हो जाता है। वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझने लगता है कि वह न तो पदार्थ का भोग करने की है, न भगवान् में लीन होने की। उसकी असली स्थिति तो ईश्वर के दास होने की है। भगवान् के प्रति की गई सेवा शाश्वत, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण होती है और ऐसी सेवा के बल पर मनुष्य मुक्त हो जाता है तथा उसके कार्यकलाप यशस्वी होते हैं। ऐसी सेवा शाश्वत होती है और इससे वह धीरे धीरे केवलानुभवानन्द-सन्दोह के पद को प्राप्त होता है, अर्थात् भगवान् के साकार रूप का दर्शन करके आनन्द के सागर में लीन हो जाता है।

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।
सङ्क्षोभयन्सृजत्यादौ तथा सूत्रमरिन्दम ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

केवल—शुद्ध; आत्म—स्वयं की; अनुभावेन—शक्ति से; स्व-मायाम्—अपनी ही शक्ति को; त्रि—तीन; गुण—गुण;
आत्मिकाम्—से निर्मित; सङ्क्षोभयन्—क्षुब्ध करते हुए; सृजति—प्रकट करता है; आदौ—सृष्टि के समय; तथा—उस शक्ति से;
सूत्रम्—महत-तत्त्व को, जो कर्म की शक्ति से पहचाना जाता है; अरिन्दम—हे शत्रुओं का दमन करने वाले।

हे शत्रुओं के दमनकर्ता, सृष्टि के समय भगवान् अपनी दिव्य शक्ति का विस्तार काल रूप में करते हैं और वे तीन गुणों से बनी हुई अपनी भौतिक शक्ति, अर्थात् माया को क्षुब्ध करके महत तत्त्व को उत्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : केवल शब्द का अर्थ है “शुद्ध” और यह सूचित करता है कि काल-शक्ति दिव्य शक्ति है, जो उनके निजी शरीर से अभिन्न है। ब्राह्मण यहाँ पर यदुराज को अरिन्दम कहकर सम्बोधित करता है, जो यह इंगित करता है कि यद्यपि माया की चर्चा चल रही है, किन्तु राजा को इससे तनिक भी चिन्तित नहीं होना चाहिए, क्योंकि भगवान् का सच्चा भक्त होने से वह जीवन के उन असली शत्रुओं काम, क्रोध, लोभ को दमित करने में समर्थ है, जो मनुष्य को माया के राज्य में बन्दी बनाते हैं। सूत्रम् शब्द महत् तत्त्व का सूचक है, जिस पर अनेक भौतिक सृष्टियाँ टिकी रहती हैं, जिस तरह धागे में रत्न पिरोये रहते हैं। प्रधान या भौतिक साम्यावस्था में प्रकृति के गुण अन्योन्य क्रिया नहीं करते। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध में भगवान् कपिल ने अपने सांख्य उपदेश में बतलाया है कि भगवान् प्रकृति की निष्क्रिय अवस्था को क्षुब्ध करते हैं, तो सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रकृति का वह सृष्ट रूप जिसमें सकाम कर्मों को प्रोत्साहन मिलता है, महत् तत्त्व कहलाता है, जैसाकि इस श्लोक में इंगित हुआ है।

यदि कोई व्यक्ति निर्विशेष वेदान्त दर्शन की आड़ लेकर भगवान् की मायामयी सृष्टि को त्यागने का प्रयास करता है और इस तरह भगवान् की अनन्त चेतना तथा बद्धजीव की अति सूक्ष्म चेतना को कृत्रिम रूप से एक समान बताता है, तो उसका यह विश्लेषण सत्य से कोसों दूर होगा। इस श्लोक में स्व-मायाम् शब्द सूचित करता है कि बद्धजीवों को प्रच्छन्न करने वाली मायाशक्ति सदैव ही भगवान् के अधीनस्थ होती है, क्योंकि भगवान् की चेतना अच्युत तथा अनन्त होती है और वे सदा पुरुष होते हैं।

तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ।

यस्मिन्प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ताम्—महत्-तत्त्व को; आहुः—कहते हैं; त्रि-गुण—प्रकृति के तीन गुण; व्यक्तिम्—कारण रूप में प्रकट; सृजन्तीम्—उत्पन्न करते हुए; विश्वतः—मुखम्—विराट जगत की अनेक कोटियाँ; यस्मिन्—जिस महत् तत्त्व के भीतर; प्रोतम्—गुँथा हुआ; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; येन—जिससे; संसरते—भौतिक संसार में आना पड़ता है; पुमान्—जीवित प्राणी।

महान् मुनियों के अनुसार, जो प्रकृति के तीन गुणों का आधार है और जो विविध रंगी ब्रह्माण्ड प्रकट करता है, वह सूत्र या महत् तत्त्व कहलाता है। निस्सन्देह, यह ब्रह्माण्ड उसी महत् तत्त्व के भीतर टिका हुआ रहता है और इसकी शक्ति के कारण जीव को भौतिक जगत में आना पड़ता है।

तात्पर्य : विराट जगत एक वास्तविकता है, क्योंकि यह परम सत्य भगवान् से उद्भूत है। तथापि भौतिक जगत नश्वर है और समस्याओं से पूर्ण है। बद्धजीव मूर्खतावश इस कनिष्ठ सृष्टि का स्वामी बनना चाहता है और वह अपने असली मित्र, परमेश्वर से विलग हो जाता है। ऐसी दशा में उसका एकमात्र व्यापार भौतिक इन्द्रियतृप्ति रह जाता है और उसका असली ज्ञान जाता रहता है।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णा सन्तत्य वक्त्रतः ।

तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ी; हृदयात्—अपने भीतर से; ऊर्णाम्—धागे को; सन्तत्य—फैलाकर; वक्त्रतः—अपने मुख से; तथा—उस धागे से; विहृत्य—भोग करने के बाद; भूयः—फिर; ताम्—उस धागे को; ग्रसति—निगल जाती है; एवम्—उसी तरह; महा-ईश्वरः—परमेश्वर।

जिस तरह मकड़ी अपने ही भीतर से (मुख में से) धागा निकाल कर फैलाती है, कुछ काल तक उससे खेलती है और अन्त में निगल जाती है, उसी तरह भगवान् अपनी निजी शक्ति को अपने भीतर से ही विस्तार देते हैं। इस तरह भगवान् विराट जगत रूपी जाल को प्रदर्शित करते हैं, अपने प्रयोजन के अनुसार उसे काम में लाते हैं और अन्त में उसे पूरी तरह से अपने भीतर समेट लेते हैं।

तात्पर्य : जो बुद्धिमान होता है, उसे मकड़ी जैसे तुच्छ प्राणी से भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह, जिसकी आँखें कृष्णभावनामृत में खुली रहती हैं, उसे दिव्य ज्ञान का सर्वत्र दर्शन होता है।

यत्र यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया ।

स्नेहाद्द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्स्वरूपताम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ जहाँ; मनः—मन को; देही—बद्धजीव; धारयेत्—स्थिर करता है; सकलम्—पूर्ण एकाग्रता के साथ; धिया—बुद्धि से; स्नेहात्—स्नेहवश; द्वेषात्—द्वेष के कारण; भयात्—भयवश; वा अपि—अथवा; याति—जाता है; तत्-तत्—उस उस; स्वरूपताम्—विशेष अवस्था को।

यदि देहधारी जीव प्रेम, द्वेष या भयवश अपने मन को बुद्धि तथा पूर्ण एकाग्रता के साथ किसी विशेष शारीरिक स्वरूप में स्थिर कर दे, तो वह उस स्वरूप को अवश्य प्राप्त करेगा, जिसका वह ध्यान करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह समझना कठिन नहीं है कि यदि कोई व्यक्ति निरन्तर भगवान् का ध्यान करता है, तो उसे भगवान् जैसा ही आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होगा। *धिया* शब्द विशेष अर्थ में पूर्ण बौद्धिक संकल्प को सूचित करता है। इसी तरह *सकलम्* शब्द मन की एकाग्रता का सूचक है। चेतना की ऐसी तल्लीनता से मनुष्य को अगले जीवन में वैसा ही स्वरूप प्राप्त होगा, जिसका वह चिन्तन करता रहता है। यह अन्य शिक्षा है, जो कीट-जगत से सीखी जा सकती है, जैसाकि अगले श्लोक में बतलाया गया है।

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन्कुड्यां तेन प्रवेशितः ।

याति तत्सात्मतां राजन्पूर्वरूपमसन्त्यजन् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कीटः—कीड़ा; पेशस्कृतम्—बर्, भृंगी; ध्यायन्—ध्यान करती; कुड्याम्—अपने छत्ते में; तेन—बर् द्वारा; प्रवेशितः—घुसने के लिए बाध्य की गई; याति—जाती है; तत्—बर् का; स-आत्मताम्—वही स्थिति; राजन्—हे राजा; पूर्व-रूपम्—पूर्व शरीर; असन्त्यजन्—त्याग न करते हुए।

हे राजन्, एक बार एक बर् ने एक कमजोर कीड़े को अपने छत्ते में जबरन घुसेड़ दिया और उसे वहीं बन्दी बनाये रखा। उस कीड़े ने भय के कारण अपने बन्दी बनाने वाले का निरन्तर ध्यान किया और उसने अपना शरीर त्यागे बिना ही धीरे धीरे बर् जैसी स्थिति प्राप्त कर ली। इस तरह मनुष्य अपने निरन्तर ध्यान के अनुसार स्वरूप प्राप्त करता है।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है चूँकि इस कथा में कमजोर कीड़े ने अपना भौतिक शरीर नहीं बदला तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उसने बर् का-सा शरीर प्राप्त कर लिया? वास्तव में किसी विशेष वस्तु का निरन्तर ध्यान करते रहने से मनुष्य की चेतना उस वस्तु के गुणों से पूरित हो जाती है। अत्यन्त भय के कारण छोटा कीड़ा बड़े बर् के लक्षणों तथा कार्यों में ही लीन था और इस तरह वह बर् के अस्तित्व में प्रवेश कर गया। ऐसे ध्यान के कारण उसे अगले जीवन में बर् का ही शरीर प्राप्त हो गया।

इसी तरह यद्यपि हम बद्धजीव हैं, किन्तु यदि हम अपनी चेतना को कृष्ण में लीन करें, तो हम अपना वर्तमान शरीर त्यागने के पूर्व ही मुक्त हो सकते हैं। यदि यह समझ कर कि भगवान् कृष्ण ही सर्वेसर्वा हैं, हमारी बुद्धि आध्यात्मिक पद पर स्थिर हो जाती है, तो हम बाह्य शरीर की व्यर्थ चेतना को त्याग सकते हैं और वैकुण्ठ की आध्यात्मिक लीलाओं में अपने को लीन कर सकते हैं। इस तरह मृत्यु

के पूर्व ही अपने को आध्यात्मिक पद तक उठाकर मुक्तजीव के रूप में जीवन का आनन्द उठाया जा सकता है। अथवा यदि कोई निपट मूर्ख है, तो इसी जीवन में भोजन तथा यौन-जीवन का निरन्तर चिन्तन करते हुए, वह शूकर या कूकर जैसा पशु बन सकता है। किन्तु मनुष्य-जीवन चेतना के विज्ञान एवं अपने ध्यान के भावी फल को समझने के लिए मिला है।

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः ।

स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गुरुभ्यः—गुरुओं से; एतेभ्यः—इन; एषा—यह; मे—मेरे द्वारा; शिक्षिता—सीखा हुआ; मतिः—ज्ञान; स्व-आत्म—अपने ही शरीर से; उपशिक्षिताम्—सीखा हुआ; बुद्धिम्—ज्ञान; शृणु—सुनो; मे—मुझसे; वदतः—कहा जाता; प्रभो—हे राजा।

हे राजन्, मैंने इन आध्यात्मिक गुरुओं से महान् ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अब मैंने अपने शरीर से जो कुछ सीखा है, उसे बतलाता हूँ, उसे तुम ध्यान से सुनो।

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-

बिभ्रत्सम सत्त्वनिधनं सततात्युदर्कम् ।

तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि

पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; गुरुः—गुरु; मम—मेरा; विरक्ति—वैराग्य का; विवेक—तथा विवेक का; हेतुः—कारण; बिभ्रत्—पालन करते हुए; सम्—निश्चय ही; सत्त्व—अस्तित्व; निधनम्—विनाश; सतत—सदैव; आर्ति—कष्ट; उदर्कम्—भावी परिणाम; तत्त्वानि—इस जगत की सच्चाइयाँ; अनेन—इस शरीर से; विमृशामि—मैं विचार करता हूँ; यथा—यद्यपि; तथा अपि—फिर भी; पारक्यम्—अन्यों से सम्बन्धित; इति—इस प्रकार; अवसितः—आश्रित होकर; विचरामि—विचरण करता हूँ; असङ्गः—विशुद्ध अतच्छमेन्त्।

भौतिक शरीर भी मेरा गुरु है, क्योंकि यह मुझे वैराग्य की शिक्षा देता है। सृष्टि तथा संहार से प्रभावित होने के कारण, इसका कष्टमय अन्त होता रहता है। यद्यपि ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने शरीर का उपयोग करते हुए मैं सदैव स्मरण रखता हूँ कि यह अन्ततः अन्यों द्वारा विनष्ट कर दिया जायेगा, अतः मैं विरक्त रहकर इस जगत में इधर-उधर विचरण करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में यथा तथापि शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि शरीर से बहुत बड़ा लाभ यह है कि इससे इस जगत के बारे में जाना जा सकता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि इसके दुःखमय अपरिहार्य भविष्य का सदैव स्मरण रखे। जलाने पर यह जलकर राख हो जाता है; यदि एकान्त स्थान

में खो जाय तो इसे सियार तथा गीध खा जाते हैं। यदि इसे भव्य शव पेटिका में रखकर गाड़ दिया जाय, तो यह सड़ जाता है और तुच्छ कीड़े-मकोड़े चट कर जाते हैं। इस तरह इसे *पारक्यम्* या “अन्यों द्वारा खा लिया जाने वाला” कहा जाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत सम्पन्न करने के लिए मनुष्य को शारीरिक स्वास्थ्य बनाए रखना चाहिए किन्तु उससे अधिक स्नेह या अनुराग नहीं रखना चाहिए। शरीर के जन्म तथा मृत्यु का अध्ययन करके मनुष्य को *विरक्ति-विवेक* अर्थात् अनावश्यक वस्तुओं से विरक्त होने का विवेक प्राप्त हो सकता है। *अवसित* शब्द विश्वास का सूचक है। मनुष्य को कृष्णभावनामृत की सारी सच्चाइयों के प्रति आश्वस्त होना चाहिए।

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्पाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन् ।
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जाया—पत्नी; आत्म-ज—सन्तानें; अर्थ—धन; पशु—पालतू पशु; भृत्य—नौकर; गृह—घर; आप्त—सम्बन्धीजन तथा मित्र; वर्गान्—ये सारी कोटियाँ; पुष्पाति—पुष्ट करता है; यत्—शरीर; प्रिय-चिकीर्षया—प्रसन्न करने की इच्छा से; वितन्वन्— फैलाते हुए; स्व-अन्ते—मृत्यु के समय; स-कृच्छ्रम्—अत्यधिक संघर्ष से; अवरुद्ध—एकत्रित; धनः—धन; सः—वह; देहः— शरीर; सृष्ट्वा—सृजन करके; अस्य—जीव का; बीजम्—बीज; अवसीदति—नीचे गिरकर मरता है; वृक्ष—पेड़; धर्मः—के स्वभाव का अनुकरण करते हुए।

शरीर से आसक्ति रखने वाला व्यक्ति अपनी पत्नी, बच्चों, संपत्ति, पालतू पशुओं, नौकरों, घरों, संबंधियों, मित्रों इत्यादि की स्थिति को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के लिए अत्यधिक संघर्ष के साथ धन एकत्र करता है। वह अपने ही शरीर की तुष्टि के लिए यह सब करता है। जिस प्रकार एक वृक्ष नष्ट होने के पूर्व भावी वृक्ष का बीज उत्पन्न करता है, उसी तरह मरने वाला शरीर अपने संचित कर्म के रूप में अपने अगले शरीर का बीज प्रकट करता है। इस तरह भौतिक जगत के नैरन्तर्य से आश्वस्त होकर भौतिक शरीर समाप्त हो जाता है।

तात्पर्य : यह तर्क किया जा सकता है कि “अभी तक जितने गुरुओं का उल्लेख हुआ, उनमें से शरीर निश्चय ही सर्वोत्तम है, क्योंकि यह विरक्ति तथा उत्तम बुद्धि प्रदान करता है, जिससे मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग सकता है। इसलिए हमें अत्यधिक अनुरक्ति के साथ शरीर की सेवा करनी चाहिए यद्यपि यह नश्वर है, अन्यथा कृतज्ञता का अपराध लगेगा। जब शरीर इतने अदभुत गुणों

से युक्त है, तो फिर शरीर से विरक्ति की संस्तुति किस तरह की जा सकती है?’’ इसका उत्तर इस श्लोक में दिया हुआ है। यह शरीर उपकारी गुरु की तरह विरक्ति तथा ज्ञान प्रदान नहीं करता, प्रत्युत इतनी पीड़ा तथा कष्ट देता है कि कोई भी विवेकवान व्यक्ति भौतिक जीवन की व्यर्थता से आश्वस्त हो जायेगा। जिस तरह एक वृक्ष अगले वृक्ष के बीज उत्पन्न करता है और तब नष्ट हो जाता है, उसी तरह शरीर की कामेच्छाएँ बद्धजीव को अगले कर्म की शृंखला उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करती हैं। अन्त में यह शरीर इस जगत में अपार कष्ट का मार्ग प्रशस्त करके समाप्त हो जाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार देह स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मानसिक शरीर दोनों का ही द्योतक है। जो लोग शरीर तथा आत्मा के अन्तर को स्पष्ट रूप से नहीं समझते, वे झूठे ही सोचते हैं कि शरीर तथा आत्मा अभिन्न हैं और मनुष्य शारीरिक इन्द्रियतृप्ति में पूर्ण सुख पा सकता है। किन्तु जो लोग मूर्खतावश नश्वर शरीर को सर्वप्रधान मान लेते हैं, उनकी तुलना उन स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों से नहीं की जा सकती, जो नित्य आत्मा की श्रेष्ठता को भलीभाँति समझते हैं।

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा

शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।

घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक्क्व च कर्मशक्ति-

बह्व्यः सपत्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

जिह्वा—जीभ; एकतः—एक ओर; अमुम्—शरीर या शरीर के साथ अपनी पहचान करने वाला बद्धजीव; अपकर्षति—दूर खींच ले जाता है; कर्हि—कभी कभी; तर्षा—प्यास; शिश्नः—जननेन्द्रिय; अन्यतः—दूसरी ओर; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय; उदरम्—उदर; श्रवणम्—कान; कुतश्चित्—या अन्यत्र कहीं से; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; अन्यतः—दूसरी ओर से; चपल-दृक्—चंचल आँखें; क्व च—अन्यत्र कहीं; कर्म-शक्तिः—शरीर के अन्य सक्रिय अंग; बह्व्यः—अनेक; स-पत्यः—सौतेँ; इव—सदृश; गेह-पतिम्—घर के मुखिया को; लुनन्ति—अनेक दिशाओं में खींचती हैं।

जिस व्यक्ति की कई पत्नियाँ होती हैं, वह उनके द्वारा निरन्तर सताया जाता है। वह उनके पालन-पोषण के लिए जिम्मेदार होता है। इस तरह सारी पत्नियाँ उसे निरन्तर भिन्न-भिन्न दिशाओं में खींचती रहती हैं, और हर पत्नी अपने स्वार्थ के लिए संघर्ष करती है। इसी तरह भौतिक इन्द्रियाँ बद्धजीव को एकसाथ विभिन्न दिशाओं में खींचती रहती हैं और सताती रहती हैं। एक ओर जीभ स्वादिष्ट भोजन की व्यवस्था करने के लिए खींचती है, तो प्यास उसे उपयुक्त पेय प्रदान करने के लिए घसीटती रहती है। उसी समय यौन-अंग उनकी तृप्ति के लिए शोर मचाते हैं

और स्पर्शेन्द्रिय कोमल वासनामय पदार्थ की माँग रखती हैं। उदर उसे तब तक तंग करता रहता है, जब तक वह भर नहीं जाता। कान मनोहर ध्वनि सुनना चाहते हैं, घ्राणेन्द्रिय सुहावनी सुगंधियों के लिए लालायित रहती हैं और चंचल आँखें मनोहर दृश्य के लिए शोर मचाती हैं। इस तरह सारी इन्द्रियाँ तथा शरीर के अंग तुष्टि की इच्छा से जीव को अनेक दिशाओं में खींचते रहते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उल्लेख करते हैं कि इस श्लोक को समझ लेने के बाद अपने शरीर रूपी गुरु की कम से कम आवश्यकताओं की बिना आसक्ति के पूर्ति करनी चाहिए। मनुष्य को सरल से सरल ढंग द्वारा अपना शरीर स्वस्थ तथा काम करने के योग्य बनाये रखना चाहिए। यही तथाकथित गुरु की सेवा का सारांश है। यदि मनुष्य निष्ठापूर्वक शरीर की सेवा करना चाहता है, तो उसे विचार करना चाहिए कि शरीर बद्धजीव की चेतना को एक साथ अनेक प्रकार से खींचता है और इसलिए शरीर के दास से ईश्वर को समझ पाने या शान्त रहने तक की आशा करना व्यर्थ है।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या

वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदन्दशूकान् ।

तैस्तैरतुष्टुहृदयः पुरुषं विधाय

ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—सृजन करके; पुराणि—बद्धजीवों को आवास देने वाले भौतिक शरीर; विविधानि—अनेक प्रकार के; अजया—माया के माध्यम से; आत्म-शक्त्या—अपनी शक्ति से; वृक्षान्—वृक्षों को; सरीसृप—रेंगने वाले जीवों को; पशून्—पशुओं को; खग—पक्षियों को; दन्द-शूकान्—साँपों को; तैः तैः—शरीर की विभिन्न किस्मों (योनियों) द्वारा; अतुष्टु—असन्तुष्ट; हृदयः—उसका हृदय; पुरुषम्—मनुष्य को; विधाय—उत्पन्न करके; ब्रह्म—परम सत्य; अवलोक—दर्शन; धिषणम्—के उपयुक्त बुद्धि; मुदम्—सुख को; आपा—प्राप्त किया; देवः—भगवान्।

भगवान् ने अपनी ही शक्ति, माया शक्ति का विस्तार करके बद्धजीवों को बसाने के लिए असंख्य जीव-योनियाँ उत्पन्न कीं। किन्तु वृक्षों, सरीसृपों, पशुओं, पक्षियों, सर्पों इत्यादि के स्वरूपों को उत्पन्न करके भगवान् अपने हृदय में तुष्ट नहीं थे। तब उन्होंने मनुष्य को उत्पन्न किया, जो बद्ध आत्मा को पर्याप्त बुद्धि प्रदान करने वाला होता है, जिससे वह परम सत्य को देख सके। इस तरह भगवान् सन्तुष्ट हो गये।

तात्पर्य : ईश्वर ने मनुष्य को विशेष रूप से इसीलिए उत्पन्न किया कि बद्ध आत्मा की मुक्ति सहज ही हो सके। इसलिए जो व्यक्ति मनुष्य-जीवन का दुरुपयोग करता है, वह नरक जाता है। जैसाकि वेदों में कहा गया है *पुरुषत्वे चाविस्तराम् आत्मा* मनुष्य-जीवन में नित्य आत्मा को समझने की अच्छी सम्भावना है। वेद यह भी कहते हैं :

ताभ्यो गाम् आनयत् ता अब्रुवन्

न वै नोऽयम् अलम् इति ।

ताभ्योऽश्वमानयत् ता अब्रुवन्

न वै नोऽयम् अलम् इति ।

ताभ्यः पुरुषम् आनयत् ता

अब्रुवन् सु-कृतं बत ॥

इस श्रुति मंत्र का तात्पर्य यह है कि गाय तथा घोड़े जैसी निम्न योनियाँ सृष्टि के उद्देश्य को पूरा करने के लिए उपयुक्त नहीं हैं। किन्तु मनुष्य-जीवन ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझने का अवसर प्रदान करता है। इस तरह मनुष्य को भौतिक इन्द्रियों को वश में रखकर मनुष्य-जीवन के असली उद्देश्य को पूरा करना चाहिए। यदि वह कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, तो स्वयं भगवान् प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और धीरे धीरे भक्त को अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं।

भगवान् की भौतिक सृष्टि में जीव तथा मृत पदार्थ होते हैं और जो अल्पज्ञ हैं, वे ही सृष्टि का भोग करना चाहते हैं। किन्तु भगवान् उन योनियों से प्रसन्न नहीं होते, जो आध्यात्मिक प्रकृति को समझे बिना इन्द्रियतृप्ति के लिए आँख मूँदकर प्रयत्न करते हैं। हम कृष्ण तथा उनके धाम की आनन्दमयी स्थिति की विस्मृति के कारण ही कष्ट पा रहे हैं। यदि हम भगवान् को संरक्षक तथा आश्रय के रूप में मान लें और उनके आदेश का पालन करें, तो हम भगवान् के भिन्नांश रूप में अपना नित्य आनन्दमय पद पुनः आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। इसी उद्देश्य से भगवान् ने मनुष्य-जीवन बनाया है।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते

मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-

निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

लब्धा—प्राप्त करके; सु-दुर्लभम्—जिसको पाना अत्यन्त कठिन है; इदम्—यह; बहु—अनेक; सम्भव—जन्म; अन्ते—बाद में; मनुष्यम्—मनुष्य-जीवन; अर्थ-दम्—महान् महत्त्व प्रदान करने वाला; अनित्यम्—क्षणभंगुर; अपि—यद्यपि; इह—इस भौतिक जगत में; धीरः—गम्भीर बुद्धि वाला; तूर्णम्—तुरन्त; यतेत—प्रयत्न करे; न—नहीं; पतेत्—गिर चुका है; अनु-मृत्यु—सदैव मरणशील; यावत्—जब तक; निःश्रेयसाय—चरम मोक्ष (मुक्ति) के लिए; विषयः—इन्द्रियतृप्ति; खलु—सदैव; सर्वतः—सभी दशाओं में; स्यात्—सम्भव है।

अनेकानेक जन्मों और मृत्यु के पश्चात् यह दुर्लभ मानव-जीवन मिलता है, जो अनित्य होने पर भी मनुष्य को सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है। इसलिए धीर मनुष्य को तब तक चरम जीवन सिद्धि के लिए शीघ्र प्रयत्न कर देना चाहिए, जब तक उसका मरणशील शरीर क्षय होकर मर नहीं जाता। इन्द्रियतृप्ति तो सबसे गर्हित योनि में भी प्राप्य है, किन्तु कृष्णभावनामृत मनुष्य को ही प्राप्त हो सकता है।

तात्पर्य : भौतिक जीवन का अर्थ ही है बारम्बार जन्म तथा मृत्यु। निम्नतम योनियों, यथा सरीसृप, कीड़े, शूकर तथा कूकर तक को इन्द्रियतृप्ति के लिए पर्याप्त अवसर मिलता है। यहाँ तक कि घर की सामान्य मक्खियों में भी व्यस्त यौन-जीवन होता है और वे तेजी से बढ़ती हैं। किन्तु मनुष्य-जीवन मनुष्य को परम सत्य को समझने योग्य बनाता है, अतएव वह गम्भीर उत्तरदायित्व से पूर्ण है। चूँकि मूल्यवान मानव-जीवन शाश्वत नहीं हैं, अतएव सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत पाने के लिए हमें आवश्यक काम करना चाहिए। मृत्यु आने के पूर्व हमें अपने असली स्वार्थ का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन करना चाहिए।

मनुष्य भगवद्भक्तों की संगति में कृष्णभावनामृत का अनुभव कर सकता है। उनकी संगति के बिना मनुष्य निर्विशेष विचारधारा की ओर आकृष्ट हो सकता है, जो परम सत्य की भक्ति से दूर ले जाने वाली है। अथवा परम सत्य को समझ न पाने से हतोत्साहित होकर मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के मिथ्या धरातल की ओर लौट सकता है। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य-जीवन अनुभवी स्वरूपसिद्ध भगवद्भक्त के निर्देशन में कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करने के निमित्त है।

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि ।

विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सञ्जात—पूर्णतया उत्पन्न; वैराग्यः—वैराग्य; विज्ञान—अनुभूत ज्ञान; आलोकः—दृष्टि से युक्त; आत्मनि—भगवान् में; विचरामि—विचरण करता हूँ; महीम्—पृथ्वी पर; एताम्—इस; मुक्त—स्वच्छन्द; सङ्गः—आसक्ति से; अनहङ्कृतः—मिथ्या अहंकार के बिना।

अपने गुरुओं से शिक्षा पाकर मैं भगवान् की अनुभूति में स्थित रहता हूँ और पूर्ण वैराग्य तथा आध्यात्मिक ज्ञान से प्रकाशित, मैं आसक्ति या मिथ्या अहंकार से रहित होकर पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण करता हूँ।

न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात्सुपुष्कलम् ।

ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; एकस्मात्—एक; गुरोः—गुरु से; ज्ञानम्—ज्ञान; सु-स्थिरम्—अत्यधिक स्थिर; स्यात्—हो सकता है; सु-पुष्कलम्—अत्यन्त पूर्ण; ब्रह्म—परम सत्य; एतत्—यह; अद्वितीयम्—अद्वितीय; वै—निश्चय ही; गीयते—यशोगान किया गया; बहुधा—अनेक प्रकार से; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा।

यद्यपि परम सत्य अद्वितीय हैं, किन्तु ऋषियों ने अनेक प्रकार से उनका वर्णन किया है।

इसलिए हो सकता है कि मनुष्य एक गुरु से अत्यन्त स्थिर या पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर पाये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है “यह कथन कि मनुष्य को अनेक गुरुओं की आवश्यकता होती है, व्याख्या की अपेक्षा रखता है, क्योंकि भूतकाल के लगभग तमाम सन्त-पुरुषों ने अनेक गुरुओं की शरण नहीं ली, प्रत्युत एक ही गुरु स्वीकार किया। गीयते बहुधर्षिभिः शब्द परम सत्य के साकार तथा निराकार ज्ञान को बतलाने वाले हैं। दूसरे शब्दों में, कुछ ऋषि भगवान् के निर्विशेष प्रत्रा का वर्णन करते हैं जिसमें आध्यात्मिक विविधता नहीं है, जबकि अन्य ऋषि भगवान् के प्रकट रूप का वर्णन करते हैं। इस तरह विभिन्न विद्वानों से मात्र सुनकर ही मनुष्य अपने जीवन की परम सिद्धि को नहीं सीख सकता। गुरुओं की विविधता जीव की अतीव भौतिकतावादी प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही लाभप्रद है। विभिन्न आध्यात्मिक दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न कराते हैं और उन्हें इस स्तर पर स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु जैसाकि बाद के श्लोकों से प्रकट होगा कि पूर्ण ज्ञान प्रदान करने वाला गुरु केवल एक होता है।”

श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है “चूँकि यह सामान्यतया ज्ञात है कि मनुष्य को एक ही गुरु बनाना चाहिए, तो फिर यह संस्तुति क्यों की गई है कि मनुष्य अनेक तथाकथित गुरुओं से सीखें जो साधारण भौतिक वस्तुओं के रूप में दिखते हैं? इसकी व्याख्या यह है कि मनुष्य

का पूज्य गुरु ज्ञान के अनेक विभागों में उपदेश देगा जो उसने सामान्य वस्तुओं से बटोरा है। जैसाकि ब्राह्मण अवधूत ने संस्तुति की है मनुष्य अपने आचार्य से प्राप्त शिक्षाओं को पुष्ट कर सकता है और प्रकृति में सामान्य वस्तुओं को देखकर उसके आदेशों का उल्लंघन करने से बच सकता है। मनुष्य को अपने गुरु से यांत्रिक रूप में शिक्षाएँ ग्रहण नहीं करनी चाहिए। शिष्य को विचारवान होना चाहिए और अपनी बुद्धि से अपने गुरु से जो कुछ सुना है उसे अपने चारों ओर के जगत को देखते हुए व्यवहार में लाना चाहिए। इस दृष्टि से मनुष्य अनेक गुरु बना सकता है, किन्तु ऐसे लोगों को नहीं, जो प्रामाणिक गुरु से प्राप्त ज्ञान का विरोध करते हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को चाहिए कि नास्तिक कपिल जैसे व्यक्तियों से श्रवण न करे।”

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी इस श्लोक की टीका की है, जो इस प्रकार है “*श्रीमद्भागवत* में कहा गया है *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*—यदि जीवन में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करनी है, तो प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। इसी तरह इस स्कन्ध के अध्याय १०, श्लोक ५ में भगवान् ने कहा है *मद्अभिज्ञं गुरुं शान्तम् उपासीत मद्-आत्मकम्*—मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु की सेवा करे, जो मेरे ज्ञान से पूर्ण होता है और मुझसे भिन्न नहीं होता। वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक श्लोक हैं, जो यह इंगित करते हैं कि एक ही प्रामाणिक गुरु की शरण लेनी चाहिए। हमारे पास महान् सन्त-पुरुषों के ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिन्होंने एक से अधिक गुरु नहीं बनाया। इस तरह यह तथ्य है कि हमें एक प्रामाणिक गुरु बनाना चाहिए और उसी से उच्चरित होने वाले विशिष्ट मंत्र भी ग्रहण करने चाहिए। निश्चय ही, मैं स्वयं इस सिद्धान्त का अनुसरण करता हूँ और अपने प्रामाणिक गुरु की पूजा करता हूँ। किन्तु अपने आचार्य की पूजा करने में मनुष्य अच्छे तथा बुरे उदाहरणों से सहायता ले सकता है। अच्छे आचरण के उदाहरणों का पालन करने से भक्ति प्रबल होगी और बुरे उदाहरणों से आगाह हुआ जा सकेगा तथा संकट से बचा जा सकेगा। इस तरह मनुष्य अनेक सामान्य पदार्थों को गुरु मान सकता है और उन्हें शिक्षा-गुरु या गुरु कह सकता है, जो आध्यात्मिक प्रगति के लिए महत्वपूर्ण उपदेश देते हैं।”

इस तरह भगवान् के ही शब्दों में *मद्अभिज्ञं गुरुं शान्तम् उपासीत मद्-आत्मकम्*—मनुष्य को चाहिए कि एक ही प्रामाणिक गुरु के पास जाये जो कि भगवान् के विषय में पूरा ज्ञान रखता हो और

उसे ही *मद्-आत्मकम्* अर्थात् भगवान् से अभिन्न मानकर उसी की निष्ठा से पूजा करे। यह कथन उस बात का खंडन कहीं करता, जिसे भगवान् ने अवधूत ब्राह्मण की शिक्षाओं में प्रस्तुत किया है। यदि कोई व्यक्ति अपने आचार्य की शिक्षाएँ प्राप्त करके उन्हें सैद्धान्तिक विचार मानकर मस्तिष्क में बन्द रखता है, तो वह प्रगति नहीं कर पायेगा। स्थिर तथा पूर्ण ज्ञान उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि अपने आचार्य की शिक्षाओं को सर्वत्र देखे। इस तरह एक वैष्णव अपने प्रामाणिक गुरु की जो भगवान् कृष्ण से अभिन्न है, पूजा करने के मार्ग में प्रकाश देने वाले किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु का आदर करता है।

ब्राह्मण ने जिन अनेक गुरुओं का उल्लेख किया, उनमें से कुछ अच्छा उपदेश देते हैं और कुछ बुरा। पिंगला वेश्या तथा वह लड़की जिसने अपनी चूड़ियाँ उतार ली थीं उचित आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जबकि अभागा कबूतर तथा मूर्ख शहद की मक्खी ऐसे आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जिससे बचना चाहिए। दोनों ही प्रसंगों से मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होती है। इसलिए इस श्लोक का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि यह भगवान् के इस कथन—*मद्अभिज्ञं गुरुं शान्तं उपासीत मद्-आत्मकम्* (भागवत् ११.१०.५) का विरोधाभास है।

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः ।

वन्दितः स्वर्चितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; सः—उसने; यदुम्—राजा यदु से; विप्रः—ब्राह्मण; तम्—राजा को; आमन्त्र्य—विदा करके; गभीर—अत्यन्त गहरी; धीः—बुद्धि; वन्दितः—नमस्कार किया जाकर; सु-अर्चितः—ठीक से पूजित होकर; राज्ञा—राजा द्वारा; ययौ—चला गया; प्रीतः—प्रसन्न मन से; यथा—जिस तरह; आगतम्—आया था।

भगवान् ने कहा : राजा यदु से इस प्रकार कहने के बाद विद्वान ब्राह्मण ने राजा के नमस्कार तथा पूजा को स्वीकार किया और भीतर से प्रसन्न हुआ। तब वह विदा लेकर उसी तरह चला गया, जैसे आया था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी *श्रीमद्भागवत* से ही प्रमाण देते हैं कि वह ब्राह्मण अवधूत वास्तव में दत्तात्रेय का अवतार था। *भागवत* का (२.७.४) कथन है—

यत्पादपंकजपरागपवित्रदेहा

योगार्थिम् आपुरुभर्यीं यदु-हैहयाधाः ।

“दत्तात्रेय के चरणकमलों के प्रताप से अनेक यदु, हैहय इत्यादि इतने शुद्ध बन गये कि उन्हें भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार के वर प्राप्त हुए।” यह श्लोक बताता है कि यदु दत्तात्रेय के चरणकमलों के स्पर्श से शुद्ध हो गया। इसी तरह प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है—*वन्दितो स्वर्चितो राज्ञा*—राजा यदु ने ब्राह्मण के चरणकमलों की पूजा की। इस प्रकार श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अवधूत ब्राह्मण स्वयं भगवान् हैं और इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा की गई है।

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः ।

सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अवधूत—अवधूत ब्राह्मण के; वचः—शब्द; श्रुत्वा—सुनकर; पूर्वेषाम्—पूर्वजों के; नः—हमारे; सः—वह; पूर्वजः—स्वयं पूर्वज; सर्व—समस्त; सङ्ग—आसक्ति से; विनिर्मुक्तः—मुक्त होने पर; सम-चित्तः—आध्यात्मिक पद पर चेतना होने से सर्वत्र समान; बभूव—हो गया; ह—निश्चय ही।

हे उद्धव, उस अवधूत के शब्दों को सुनकर साधु राजा यदु, जो कि हमारे पूर्वजों का पुरखा है, समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो गया और उसका मन आध्यात्मिक पद पर समान भाव से स्थिर (समदर्शी) हो गया।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् अपने ही वंश, यदुवंश, की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि इसमें अनेक महान् स्वरूपसिद्ध राजा हुए हैं। राजा यदु को ब्राह्मण अवधूत के रूप में दत्तात्रेय ने यह शिक्षा दी कि वह ईश्वर की सृष्टि को देखकर ही अपनी चेतना को वैराग्य के आध्यात्मिक पद पर स्थिर करे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत “पूर्ण वैराग्य” नामक नौवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।